।। आ यद्रुहाव वरुणाश्च नाव प्र यत्समुद्रमीरयाव मध्यम ।।

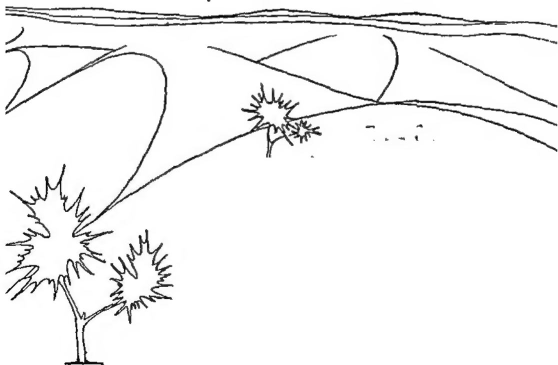
—ऋग्वेद ७।८८।३



सूर्य प्रकाशन मंदिर, बीकानेर

वह एक समुद्र था

नन्द किशोर आचार्य



प्रकाशक
सूर्य प्रकाशन मंदिर
बिस्सों का चौक बीकानेर

प्रथम संस्करण अक्तूबर, 1982

मूल्य
बीस रुपये मात्र

पारदर्शी शिवजी

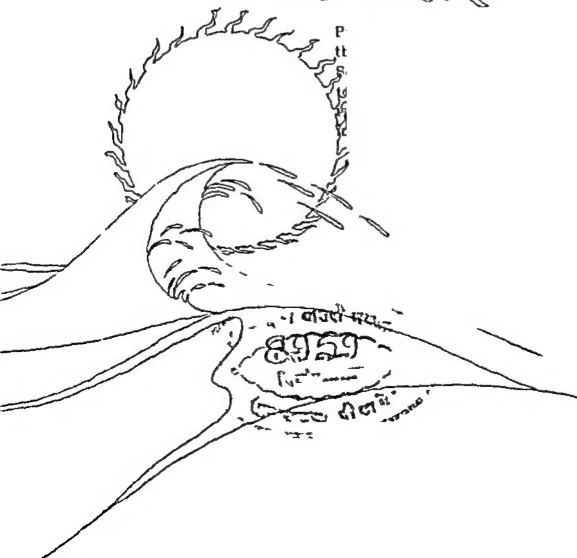
फ्लापक्ष तूलिका

मुद्रक
भारती प्रिण्टर्स,
दिल्ली 110032

WAH EK SAMUDRA THA (*Poetry*)
by Nandkishore Acharya Rs 20

क्रम

जल जिसे जपता है



बरसो जल

घोर फैलाये
निदाघ अगन के बीच में
सूना सहमा ताल
लगती है हिरनी-सी डोंगिरा

बरसो, और बरसो जल
ताल को भरा भर दो
डोंगिरा को हरा

उगे थोड़ी घास
　　कोई गाछ
　　कुछ फूल-पत्र।

बरसो, प्यार के जल!

(जुलाई 1980)

बाहर के जल की खातिर

छलछल
शिखरों से घाटी में बहते आते जल की
छुलछुल से
घुलती जाती है शिला
उभरती आती है साकार तरलता
केवल शिल्पी ही नही है
जल प्रतिमा भी है !

सूखे होठ, कठ मे काटे से उग आये
जल रहे प्राण
देह प्यासी है धधकती एक आर्त्त पुकार
मरुथल में—
प्यास बाहर के जल की खातिर
भीतर के जल की आकुलता है
केवल नर ही नही है
जल नारायण भी है !

प्रलयकर झंझाचक्र जलो के
सागरतल से शिखरो तक
सब कुछ लील जाय
फुंकारें जल की क्रुद्ध
युद्ध जल का जल से

धीरे-धीरे सब कुछ आगे से
हट जाए
और फिर उग आता है समय
रेत सिर्फ नहीं है
उन [illegible] ध्वनित भी है।

(माघ, 19[illegible]0)

पीत कमल

जल ही जल की
नीली दर-नीली गहराई के नीचे
जमे हुए काले दलदल ही दलदल मे
अपनी ही पूछ पर सर टिकाकर
सो रहा था वह
उचटा अचानक
भूला हुआ कुछ कही जैसे गुनगुनाने लगे।

कुछ देर उन्मन, याद करता-सा
उसी बिसरी राग की धुन
जल के दबावो मे वही घुटती हुई

एक एक कर लगी खुलने
सलवट सारी
तरंग-सी व्याप गयी जल मे
अपनी ही पूछ के बल खडा
झूमता था वह
फण खिला था राग की मानिन्द।

ऊपर जल की नीली गहराई मे मे
फूट-फूट आते थे
पीत कमल।

(मई 1980)

तुम कहाँ होती हो

तुम कहाँ होती हो ?
हवाओं में गीतों की भंगिमा में
जगमगाती हैं
वनस्पतियाँ रचना की कामना में
गुनगुनाती हैं
अपने आप को पाने के लिए प्राणों में
छटपटाता भटकता है जब
समूची सृष्टि
तुमको थाम लेने
एक देह उदग्र !
तुमको घेर लेने
एक हहराती लपट आकुल !

तब तुम कहाँ होती हो
अपने ही लिए
समूचे अस्तित्व की इस तड़प को
एक जय करती हुई ?
तुम कहाँ होती हो ?

(अप्रैल, 1980)

राग के आवृत्त में

काली रात के तारों पर
बजती हुई
घनीभूत धुन है तुम्हारी
देह
मीडों-मुरकियों की झूल
में उन्मन
खिंचा जाता हूँ
समाने राग के आवृत्त में ।

मृत्यु से भी अधिक
कैसा दुर्निवार खिंचाव
आह मां, माँ आह !

(जून 1980)

हरी, सिहरी-शाख

दूर रानी पथरीली चट्टान पर
घूमता है अकेला वह
एक वीराने का भरता हुआ

झरती पत्तियों के साथ
गाती हवाओं में झूम रही है
हरी धूप कोई
हर सुर
सभी को शान्त करता हुआ—
हरी, सिहरी शाख।

(जून 1980)

गूँज करता हुआ

फूटती है पहाड़ों से उफन
टकराती, शिलाएँ वहा ले जाती
नदी है आवेग जल का—
खुद में सभी कुछ को
भींच लेने
छटपटाता, बिफरता आवेग

चट्टान को जल
और मुझ को गूज करता हुआ

(अगस्त 1980)

अल्हड पहाडी

बेसुध सो रही अल्हड पहाडी
उघडी आप-सी
दिप-दिप रही है नदी
मन्त्रविद्ध-सा अवश बादल
खिंचा आता है।

पहाडी मुगबुगाती
जाग आती
लिपट जाती
भींच लेती है
रोम-रोम में रम गया
बस गया
है बादल !

(अगस्त, 1980)

खिलखिलाती दहक

एक आग पेड में है
एक वर्फ मे
आग मे आग घुलती है
गलती है
जल हो जाती है

आग मे आग रच-वस जाती है
फूटती है
खिल आती है।

हर फूल कोई दहक है जैसे
महकती, खिलखिलाती दहक !

(अप्रैल 1980)

घाटी हरी होती है

आँखें बिछाये
प्रतीक्षातुर हो रही घाटी
घुटती उसाँस—
ठिठरता आ रहा बादल
उमग कर लिपट जाता
भींच लेता है
समर्पित शिथिल होते अंग
कभी गुनती, कभी शर्माती
घाटी हरी होती है।

(अगस्त 1980)

जल हो रही आग

रिस-रिस शिखर से
टपकता जल
धार होता, कसमसाता,
काटता चट्टान,
वहता है उफनता, गूंजता
अपने गर्भ से मिलने
शिखर की विकलता है नदी।

विकलता जो धारती है
सींचती है
खिलाती है और
महकाती है
माटी में छुपी वह आग
जो मां है उसी की।

अतल से उठती
उसी में समा जाने को तड़पती हुई
रिस-रिस शिखर से टपकती
जल हो रही है आग।

(अगस्त 1980)

हरे और हरे के बीच

अपने सभी रंगों में
रूपों में
खिला है हरा घाटी में
सब कुछ भरा है।

और यहाँ इस घने झुरमुट में
हरे और हरे के बीच
एक अवकाश है
जिसमे छनती है एक श्यामल लय
सब तरह से हरा में झरती हुई
भरती हुई हर साँस
मेरी हर धडकन मे गूँजती
हौले से खोलती वह द्वार
जो उसी का उजडा हुआ आवास है।

(अगस्त 1981)

तीर्थयात्रा

सूज गये हैं पाँव
थकान से टूट गया है पोर-पोर
धौंकनी से हाँफते हैं प्राण।

किन्तु हाँफती सी गंगा
और पिघलते हिमखण्ड के बीच
गूँजती है आत्मा की चिरन्तनता
बहती नदी-सी

डूबकर नहाता हूँ थका-हारा
फिर से तरोताजा,
नया होता हूँ।

लो, यहीं पर बन गया है तीर्थ!

(अगस्त 1981)

वह एक प्रार्थना थी

वह एक प्राथना थी
जिस मे हम जुड कर
अजुलि हो गये
समर्पित उन कमलो से भरी
खिले थे जो
हमारे प्यार के जल मे।

तुम नही हो अब
जागती है कितु मुझ मे
प्राथना की धुन—
मेरे उजडे हुए आकाश को
गुजार कराती हुई।

(नवम्बर 1981)

एक छोटी झील थी वह

एक छोटी झील थी वह
पहाडो से घिरी, जल से भरी,
निर्मल
किन्तु सूनी देख रोती थी
जिसे चुपचाप
सब चोटियाँ हिमधवल।

एक दिन किन दूरियों, ऊँचाइयों मे अचानक
वह उतर आया हस—
आकाश ही जिसकी कथा है—
मुस्कुरायी चोटियाँ, खिलने लगी घाटी
खेलता था हस लहरो सग
सब कुछ भूल कर—
झील ही आकाश हो आयी।

और लो, अचानक उड गया हस।
उसे उडना था
झील का सुख स्मरण है।
कभी पाखें तुम्हारी भी, हस,
लहरियों मे ऊब-डूब की याद से
कुछ सिहरती तो नही ?

(दिसम्बर, 1980)

वह नाम मै हूँ

अपने ही आप मे ठहरा हुआ
वह
अचानक कुछ बुदबुदाता है
गहरी नीद सोया जल
उचट कर जाग जाता है।

जल उत्तेजित,
जल उद्वेलित, आलोडित,
जल से लिपटता है जल

और फाडकर जल को निकलता
कपिल शूर वह
सँभाले प्रेम और भय से लिपटती हुई
मेरी गर्भिनी मा को

वह नाम मैं हूँ
गहरी नीद मे जल जिसे
जपता है।

(जून, 1980)

पुनि-पुनि जहाज पर



कसमसाती बँधी नौका

एक सूना घाट
नौका बन्धी है
दूर तक फैली हुई लहरें
उमगती बुलाती है उसे
बँधी नौका कसमसाती है।

कभी कोई था
उस पार से इस पार जो आया
—एक अर्सा हुआ—लौटा नही है।
कही जाकर बस गया होगा।

अब कौन जानेगा
उस नाव की पीडा
फिर मे काठ होकर
        रह गयी है जो—
एक सूना घाट ही
जिसकी नियति है।

(नवम्बर, 1980)

यदि यह सृष्टि

यदि यह सृष्टि
तुम्हारी ही कल्पना है
तो अब म नही मरूँगा
जब तक तुम नही मरते ।

और तुम
जो बार-बार मुझ मे
जनमते हो कि मर सको
अमर होने को विवश हो ।

इसलिए ऊबो नही
प्यार करो
और मुझे सँवारो
जैसे मै अपने प्यार को
सँवारता हूँ
जिस मे मैं हर बार
मरता हूँ कि जी सकूँ ।

(अक्तूबर 1981)

अब नियति हूँ

मर जाऊँगा मैं किसी दिन
यह दुनिया भी
तब भी तुम रहोगे
और तुम्हारी आँख में
किरकिरी-सा ही नहीं
—न सही किसी सपने-सा—
खटकता ही रहेगा यह दृश्य
जो तुमने देखा है
यानि मैं
यानि यह दुनिया।

मैं जो तब तुम्हारी सृष्टि था
अब नियति हूँ।

(अक्तूबर, 1981)

द्वार पर ताला

द्वार पर ताला जड़ा था
सीढ़िया सूनी
हवाओं के थपेड़ों से
तार-तार हो गयी पताका
गल कर झर गयी थी
शिखर पर जो चमकता था दंड
जर्जर हो चला था
सभी कुछ पर छा गयी थी धूल
सब कुछ थिर रहा था।

किन्तु वह करता रहा अन्दर प्रतीक्षा
कोई आय—उसे फिर से
देवता कर दे।

काश ! अपने आप को
पत्थर न करता वह
काश ! उग आता
फोड़ कर पत्थर को
इस पीपल की डाली की तरह।

(अक्तूबर, 1981)

वह मुझी में है भय

एक अनन्त शून्य ही हो
यदि तुम
तो मुझे भय क्यों है ?

कुछ है ही नहीं जब
जिस पर जा गिरूँ
चूर-चूर हो छितर जाऊँ
उड जाय मेरे परखचे
तब क्यों डरूँ ?

नहीं, तुम नहीं
वह मुझी मे है भय
मुझको जो मार देता है
और इसलिए वह रूप भी
जो तुम्हे आकार देता है।

(अक्तूबर 1981)

तब भी था समुद्र

तब भी था समुद्र
इतना ही अगाध
इतना ही अनन्त
कि दूर-दूर ऊँची उडानें भर
लौट आता था वह थका-हारा
पुनि-पुनि उस जहाज पर
जो अब अगर है भी कहीं तो
गहरे—बहुत गहरे।

अब केवल खारे पानी का
यह अपार विस्तार है
और पाखी
ढूंढता है ठौर कोई
दूर-दूर भरता उडानें
लगाता चक्कर
एक चक्कर और
चक्कर और चक्कर
और चक्कर
और चक्क

(नवम्बर 1981)

खोखल अँधेरा

कोई एक चेहरा नही है
            कोई चेहरा
उस मे से कई चेहरे झाकते है
एक-दर-एक ।

पर आखिर जो बच रहता है
वह कोई चेहरा नही
सिर्फ अँधेरा है—
सभी चेहरो को अपने मे समोता
            खिलखिलाता हुआ
खोखल अँधेरा !

(जुलाई, 1980)

तालाब की छाती

देवल एक पत्थर का
बना है
पास ही तालाब छोटा-सा—
जल जिस का
चढ़ कर ही देवता पर
हो पाता है पावन चरणामृत—
सूखा पड़ा है कब से।

देवल पत्थर का
वैसा ही निर्विकार है
जल उसकी जरूरत नहीं है जैसे
तालाब की छाती
व्यथा से फट गयी है
उस कंकाल की ही तरह
जो हरा पेड़ था कभी।

(अक्तूबर 1981)

उसी से बने हैं पानी

कई छोटी-बड़ी नदिया
मुझ मे बह रही ह
        उफनती, गूजती ।
मैं सभी को झेलता
धरती-सा चुप हूँ
सभी गूजो को अपने मे समोये ।

उसी से बने ह पानी
जो धारे है मुझ को
और वह गूज
जो आकाश-सी धारे हुए है
मुझे धारे हुए सारे पानियो को ।

(अक्तूबर 1981)

जब खुलेगी आँख

एक तारा
जो कभी होगा
टिमटिमाता है अभी

नही हूँगा जब
मै भी टिमटिमाऊँगा
टिमटिमाता था
नही था तब भी।

काल के पट पर
मँडी है अमिट छवि मेरी
जब खुलेगी आंख
मैं दिख जाऊँगा।

(अक्तूबर 1991)

दाय

वह जो
सर पर लाद कर
                    ले जा रही है
उस का नही है
वह हमारा दिया है
पीढ़ियों से यह हमारा दाय है
जो हम उसे देते रहे है
वह हमारा है
हमारे इतिहास का गू।
वही तो इतिहास से
        हम ने लिया है।

(सितम्बर 1981)

अपना परमात्मा

आत्मा का कोई रूप
न होता हो चाहे
जात जरूर होती है
जैसे यह ठाकुर आत्मा है, यह बनिया
मैं बामन और वह भगी आत्मा ।

परमात्मा हो सकती है सभी आत्माएँ
—अपने-अपने कर्म मे
तो क्या ?
उस का परमात्मा भगी ही होगा
मेरा बामन
—इसीलिए वह छू भी नही सकता
मेरे परमात्मा को
वह जाए अपने वाले के पास
जो कहीं विष्ठा उठाता होगा
मेरे परमात्मा की !

(सितम्बर 1981)

सस्कार

मूख है वह लडका
हम भी समझते है
मन की चचलता, देह का धर्म ।
वह चाहे तो अब भी
रख ले उस भगिन लडकी को
सुलाए अपने साथ
नोचे-खसोटे उस की पारे-सी देह
चाटता रहे उसका गुप्ताग
                    निशि-दिन
प्यार मे सब जायज है ।

नही, पर ब्याह नही
वह तो जन्मान्तरो का रिश्ता है
                    सस्कार है
आप तो जानते हैं
हम एक सस्कारी समाज हैं ।

(सितम्बर, 1981)

आत्मा की बास

इतनी ही सुडौल होगी
तुम्हारी आत्मा
जितना बदन है
और इतनी ही गहरी
जितना तुम्हारा व्रण—
आदिम रात सा मुझको अपने मे
लील लेता हुआ ।

सिर्फ देह ही होते हम
तो क्या रगडा था ?
तब वह आत्मा तो नही होती
हमारे बीच
जो हर सभोग के बाद
द्विज हो जाती है
नहा लेती, बदल लेती जनेऊ
ठाकुर द्वारे हो आती है

सुनो ! तुम्हारी आत्मा भी तब क्या
विष्ठा उठाने चली जाती है
और रात के अँधेरे मे
मेरे छुप कर आने से पहले
रगड-रगड कर नहाती है खूब
(महकते साबुन से—जो मैंने दिया है—)

कि मेरी चन्दन-सुवासित
वैदिक आत्मा को
तुम्हारी आत्मा से विष्ठा की
वास न आये ।

(सितम्बर, 1981)

यदि चुने हों शब्द

जोड़-जोड़ कर
एक-एक ईंट
जरूरत के मुताबिक
लोहा, पत्थर, लकड़ी भी
रच-पच कर बनाया है इसे।

गोखे-झरोखे सब हैं
दरवाजे भी
कि आ-जा सकें वे
जिन्हे यहाँ रहना था
यानि तुम।

आते भी हो
पर देख छू कर चले जाते हो
और यह
तुम्हारी खिलखिलाहट से जिसे गुजार
                                    होना था
मकबरे-सा चुप है।

सोचो,
यदि यह मकबरा हो भी तो
                    किस का ?
और ईंटो की जगह
चुने हो यदि शब्द!

(सितम्बर 1981)

किन्तु कवि हूँ मैं
इसलिए अपना स्वर मिलाता हूँ
उसी समवेत स्वर मे
जो तुम्हारी आत्मा मे गूजता है

(दिसम्बर 1981)

अन्धों पर लाठियाँ

हम सभ्य ह
क्योंकि हमारे यहा कानून का शासन है
कानून जिसकी आँखों पर पट्टी बँधी है
कि वह फक न कर सके अमीर और गरीब,
कमजोर और ताकतवर, अन्धो और आँख वालो के बीच
हम आदमी और आदमी मे कोई फक नही करते
क्योंकि हम सभ्य ह !

वे गये ही क्यो ये उधर
जो आम रास्ता नही है
जो सिफ सापो के लिए बनाया गया है
कि उन्हे आदमियो से बचाया जा सके
—खास तौर पर अन्धो से
कि उनके पाव सापो को कुचल न द कही !

कँटीली झाडियो और गहरी खाइयो वाले इस बीहड मे
भेडियो, गिद्धो, कुत्तो और सापो के बीच
अन्धे भी 'स्वतन्त्र' ह
कि अपनी जिम्मेदारी पर अपनी पगडडी बना ले !
हम जीव और जीव मे कोई फक नही करते
क्योंकि हम सस्कारी है !

(मार्च 1980)

मैं कृतज्ञ हूँ

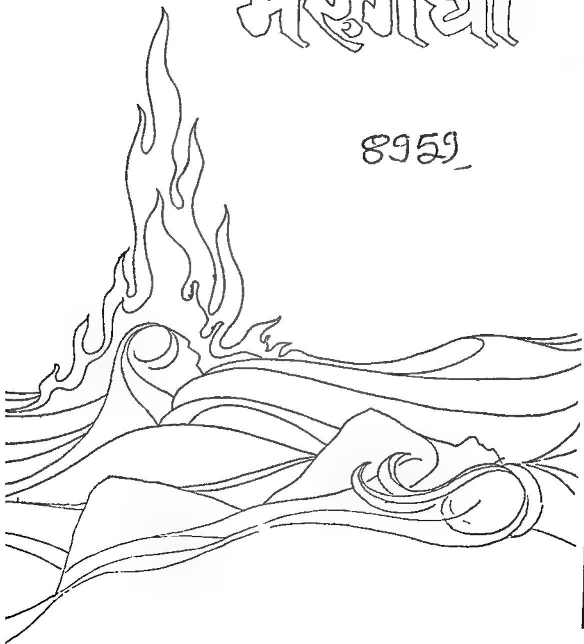
मुझे पता है
और मैं कृतज्ञ हूँ
कि आपकी पूरी सहानुभूति है
मेरे दुख के साथ।

कृतज्ञ हूँ यह भी
मेरा दुख जिसका सुख है
यद्यपि उसकी विवशता भी
समझते हैं आप।

अब दुखी तो आप भी होंगे ही
जो न मेरा दुख मिटा पाते हैं
न उस की   विवशता,
आपकी इस असहायता से
पूरी सहानुभूति है मुझे
और अफसोस है कि
आप मेरी वजह से नाहक दुखी हैं।

फिर भी सहानुभूति, कृतज्ञता
आप ही की वजह से तो बचे हैं ये
—शब्द ही सही
और मैं इसके लिए
फिर से कृतज्ञ हूँ।

(जून 1980)



मरुथली का सपना

मरुथली ! तुम भी कभी
सपना देखती होगी
और देखा है कभी मृग ने
सपना देखती तुम को।

उसी को सत्य करने
भटकता फिरता है वह इस लाय मे
यह रहा, यह रहा जल यह रहा

और आखिर हाफता, बेदम
उगलता झाग
आखे उलट देता है।

तुम्हारी आख मे क्या
—एक बूद ही सही—
जल भरता नही है ?
मरुथली ! तुम भी कभी
सपना देखती होगी।

(माघ, 1932)

थार का विस्तार सूना

थार का विस्तार सूना
दूर तक कोई नही पद-चिह्न
—कभी होगे भी तो उन पर
छा गई है रेत
उनको कौन अब जाने !

किन्तु इस से नही कैसे हो गयी
जो मडी थी
वह छाप ?
तुम भी, थार,
क्या गये उसका भूल ?
सच कहो, वह कही
मन मे तुम्हारे गहरे
अंकित नही है !

(माघ 1982)

एकाएक नहीं उठा था बवडर

एकाएक नही उठा था ववडर
धीरे-धीरे रेत चढती रही थी
छा गई थी समूचे आकाश पर।

तब मे सभी कुछ पर
गिर रही ह   खख,
सभी कुछ मे किरकिराहट है,
किन्तु अब तक शब्द है निमल
मै उसी मे मे तुम्हे देखूगा, सूघूगा
                चूमूगा, थाम लूगा।
उसी के सहारे में
खप के—और थार के भी—
पार हो लूगा।

(माघ, 1982)

बह रही है नदी सूखी

थार के विस्तार मे
यह बह रही है नदी
सूखी

रिस-रिस कही अन्तस् मे
बह रहा होगा जल
वह सभी तक पहुचे
यह थार की आकाक्षा हो तो नदी है
यही बहती रहे
—सूखी ही सही।

(माच 1982)

कहीं तो फूटो

परमात्मा से भी अधिक बीहड
यह सूना अकेलापन
वह भी नहीं सह पाया,
इसे तोडे बिना होना नहीं है।

किन्तु तुम चुपचाप
अपने में लिए बठे हो सारा ताप।
फूटो, कहीं तो फूटो
मुझ में
मुझे होने दो, मेरे बाप।

(माघ 1982)

यह समाधि

यह समाधि किस तरह की है, थार
जिसमें सृष्टि एक अदीठ
उगी जाती और नय होती
निरन्तर
है, वह है
तभी तो तुम हो।

उसी को देखने, छूने, सुनने
सूंघने, चखने की खातिर
मुझ में निकलता है जो
मैं भी उसी से तो हूँ, होता हूँ।

(माघ 1982)

डूबने दो मुझे

डूबने दो मुझे
मुझ को पार हाने दो।
यार भी हूँ, थार भी
नही हूँ प्यार लेकिन
जिसके लिए बिखरा हूँ, बिफरा हूँ
तपा हूँ, भटका हूँ, चीखा हूँ, रोया हूँ
नाचा हू, गाया किया हूँ, ऊबा हूँ
डूबा नही लेकिन
—जल ही कहाँ था !

कभी तो डूबने दो मुझे, मेरे यार
मुझ को पार होने दो !

(माघ 1982)

आत्मा के गर्भ में

चारों ओर फैला
तप रहा मरुथल
आवे की तरह भीतर ही भीतर
क्या पकाता है ?

बोलो, तुम्हीं कुछ बोलो,
प्रजापति !
मेरी आत्मा के गर्भ में
क्या धर दिया पकने
मेरे ही पसार के चाक पर घड़ कर।
ये आवा कभी तो खोलो,
प्रजापति !
मुझमें कभी तो हो लो !

(माघ, 1982)

बस एक रेतीला सपाट है

न ऊँचाइयां है, न गहराइयाँ
बस एक रेतीला सपाट है
दूर तक पसरा हुआ, निश्छाप, तपता

जपता नाम कोई
कहां तक उडता अबाध मरुथल में
प्यासा कलपता पाखी
ढूढता छाया अपनी ही परछाई में
आ गिरता जलती रेत पर बेबस
तडपता, झुलस जाता है।

सपना पल रहा था जो
आंखों से निकल कर
ढुलकने भी नहीं पाता
सूख जाता है।

निस्संग पसरा हुआ
निश्छाप, रेतीला सपाट
तपता रहता है।

(मार्च, 1982)

जल की याद

सदा ऐसा ही नही था मै
  —उजडा और निजल
हरा भी था कभी, रस से भरा—
अपनी बाँहो मे भीचता सब कुछ
        आत्मा को सीचता
—अब हूँ सिफ निजल रेत, सूखा खार
            यानि थार।

हॉ, कभी मुझ मे तडफडा कर
    जागती है याद उस जल की
            हरियल की
खेखारते उठते बगूले, बवडर
भटकते, सब कुछ फटकते
घेरते आकाश।
लेकिन व्यथ ! थक हार कर थमते
धोरो मे मुह छिपा कर सुबकते
विवश सो रहते   निजल प्यार !

नही फिर भी नही कढती
नही कढ सकती
मुझ मे किरकिराती हुई
जल की याद !

(माच 1982)

कही जल है, माँ।

नहीं, तपती रेत ही तू नही है केवल
तुझ मे कही जल है, माँ!
कही गहरे जल
सिर्फ मेरे लिए संचित।

यह जल किस तृषा से उपजता है, माँ!
खुद को जला कर भी
सींचती मुझ को—
में जो रोइडा ही सही
तेरा पूत हूँ!

(मार्च 1982)

कौन है यह

सचमुच ही, मरयोगी, तुम
इतने निस्सग हो, इतने वीतराग
कि टिकती ही नही
तुम पर कोई भी छाप ?
व्यापता भी नही कोई जल ?
फूटता ही नही कोई जाप ?

किन्तु तब किस के लिए है
आधियो मे भटकती यह तड़प,
क्यो सभी कुछ पर झपटता
        यह क्रुद्ध घूर्णिवात ?
किसलिए खुद ही को उलटते-पुलटते
                                प्रतिपल
नित नयी लय रच रहे अपने आप ?

इस वीतरागी अकेलेपन मे
छुपा बठा कौन हे
यह अजनवी पागल,
        मेरे तात !

(माच 1982)

वह गाछ जो तुम हो

सागर
रेत का यह एक तपता हुआ
पसरा है असीम।

वह कहां है जल
सींचता उस एक
हरियल छांह को
जो तुम्हारी देह-सी
छाई है मुझ पर।

या कि मेरी आत्मा ही बावली है
मेरे अछोर तक पसरे
तपते हुए मरुथल में
सींचती वह गाछ
जो तुम हो।

(नवम्बर 1980)

मुझ में तुम्हीं से

वे आते है
और उदास हो जाते हे
तुम्हारी वीरानगी देख कर
नही, रेगिस्तान मे कुछ नही उग सकता।

अब यह भी क्या दोष मेरा है
कि मैं—बावलिया—दिखता नही उनको
और न वह कविता
जो मुझमे तुम्ही से फूटती है।

(मार्च 1982)

एक दुनिया रेत से

एक दुनिया रेत से भी रची जाती है
—सूखी रेत से
भले ही ढह जाय क्षण भर में
हवा के एक झोंके से बिखर जाये।

काल के निस्सार रेगिस्तान में
वही पल है अमर
जिस में चार नन्हे हाथ
रेत से—खेल में ही सही—
एक अपना बनाते हैं घर।

(मार्च 1982)

तलाई की मुलक

पपवाडा फेरे सो रही है
मानिनी-सी वह
पलका दे रही है पाल
गोरे डील-सी
झुकी है नीम की मनुहार
तन पर नम
कामना-सी व्यापती है गध
गहरी नीद के मिस फूटती है
पुलक !

छुपाये भी नही छुपती
रह-रह दिप रही जल मे
मुग्धा तलाई की मुलक !

(माघ 1982)

रेतीली कसक, कँवली

कितनी नम, कितनी रुपहली है
तुम्हारी देह, मेरी प्यार
रेत-सी फिसल जाती हुई—
जब-जब थामता हूँ मैं।

केवल हथेलियों में ही नहीं
हिये में भी जाग आती है
एक रेतीली कसक, कँवली !

(मार्च 1982)

ताप आप

आत्मा के ताप-सी
सब ओर पसरी जा रही है
रेत।

जितना ताप
उतना आप
होगी।

रेत पर जो मडी है
लहर
एक दिन गुजार होगी
आत्मा की राग सी।

(माच 1982)

भले ही रेत हो

भले ही रेत हो
पर आब है तुझमे
तभी तो मैली नही है तू
अनोखी है दमक तेरी
चमकती हुई दपण-सी ।

किन्तु पानीदार रस दपण मे
चेहरा क्यो नही दिखता
जब भी झाँकता हूँ मैं
वह चौंध आखे सह नही सकती
या बस रेत दिखती है कभी
सुनसान और उजाड !

मुझी मे नही है क्या ताब
खुद को देख पाने की ?
या मेरे चेहरे पर भी पसरा हुआ
उजडा एक रेगिस्तान है !

(माच 1982)

पुरुषोत्तम मर्यादा

मैंने क्या बिगाड़ा था तुम्हारा, राम ?
दोष जिसका था
—जिसने पथ छुपाया—
वह शरण आया
तो मुझ ही पर क्यों चला
वह बान अभिमन्त्रित
मेरा प्राण-जल जिसने जलाया ?

तब भी बाण से मुझ को नही था डर
नही तो मैं शरण आता
खैर, मेरा जो हुआ सो हुआ
मान लूगा वही नियति थी।

किन्तु तुम्हारी पुरुषोत्तम मर्यादा !
उसका क्या हुआ फिर ?

(माघ 1982)

भले ही रेत हो

भले ही रेत हो
पर आब है तुझमें
तभी तो मैली नहीं है तू
अनोखी है दमक तेरी
दमकती हुई दर्पण-सी।

किन्तु पानीदार इस दर्पण में
चेहरा क्या नहीं दिखता
जब भी झाँकता हूँ मैं
पर [illegible] आँखें यह नहीं मानतीं
या बस रेत दिखती है सभी
सुनसान और उजाड़ !

मुट्ठी में नहीं है क्या ताब
खुद को कैद पाने की ?
या मन चेहरे पर भी पसरा हुआ
उजाड़ एक रेगिस्तान है !

([illegible])

प्राणों में आशिष

चढ गयी थी आकाश तक
खेपार करती
रेत जो सूखी
आर्द्र होकर जम गयी है,
गूजता केकार मोरो का।

सूखकर फट गया था तल
जिस तलैया का
उसमे भर गया है जल
भेंट वरसो बिछुडे बेटे को
सूखी-रोगिणी मा
जिस तरह हरखाय,
प्राणो मे आशिष भर आय।

(जून 1978)

बरसों से इस बार

बरसों से इस बार
जब बरसा है धारासार
जिन में [illegible] थी [illegible]
वे [illegible] धार

[illegible] मुसाफ़िर
[illegible]
[illegible] अब फिर
[illegible]
[illegible] नार।

([illegible])

जगरा बुझ रहा है

रेत चारों फेर
पसरी हुई है   मौत-सी ठंडी, अँधेरी,

जगरा बुझ रहा है यह
थाप-थाप कर सजोयी यादें
हो रही हैं राख जल-जल कर।

देखूं, कहीं राख की परतों के नीचे
कोई बचा हो अंगार
जो एक पल के लिए छोटी-सी लपट दे दे
तुम्हारे चेहरे की सोई दहक
जिसमें दमक जाये पलक भर

फिर रात रेत-सी
रहे पसरी हुई चारों फेर चाहे
मौत-सी ठंडी, अँधेरी।

(माघ 1982)

—जीवाश्म-सी ही सही—
तब तक दुख है (इसलिए सपने भी !)
वह जितना गहरा है
चश्मा उसी शिद्दत से
कभी फूटेगा ।

(माघ 1982)

वह एक समुद्र था

वह एक समुद्र था
फैलता और गहराता हुआ
मैं जिसमे निश्चिन्त सोता था
क्योकि तुम थे
नाव को खेते हुए।

कितनी लम्बी थी
कितनी गहरी नींद !

नाव अब भी है
—रेत मे धँसी,
नगे वदन मैं भी हूँ,
वह विस्तार जल का
यही जलता हुआ मरुथल है।
और तुम
हाँ, ठीक ही तो है
जब जल ही नही तो
तुम कहा होते !

किन्तु मुझमे जल रही यह आग
मुझको जलायेगी

फिर उठेंगे बादल
फिर बरसेगा जल
फिर बहेगी नाव अपरम्पार मे
तुम्हे फिर अस्तित्व मैं दूगा।

(दिसम्बर 1980)

• •



नन्द किशोर आचार्य

जन्म 31 अगस्त 1945, बीकानेर (राज)
शिक्षा एम ए (इतिहास एव अग्रेजी साहित्य)

स्कूल मे अध्यापन पत्रकारिता और प्रौढ शिक्षण कम के बाद सम्प्रति रामपुरिया कालेज-बीकानेर मे अध्यापन।

'एवरीमेस' साप्ताहिक मे उप-सम्पादन, 'नया प्रतीक' मे सह सम्पादन, अरुमरु' और मरुदीप साप्ताहिक पत्रो के सम्पादन और सप्ताहात' साप्ताहिक के सहयोग-सम्पादन के बाद फिलहाल पत्र कारिता से मुक्त।

कविता सकलन सवेदन इति' के अलावा 'अनौपचारिक शिक्षा और विकास एव रवेगा सगीत' पुस्तको का सम्पादन।

प्रकाशित कृतियाँ
तथागत (उपन्यास)
अज्ञेय की काव्य तितीर्षा (आलोचना)
'दी कल्चरल पॉलिटी आफ दी हिन्दूज' (शोध)
जल है जहाँ (काव्य)